

हिंदी का लेखक चूहा है और प्रकाशक बिल्ली



हिंदी में अजब घटतौली है। कमोवेश हर जगह। क्या प्रकाशक, क्या संपादक, क्या अखबार या पत्रिकाएं। सब के सब एक लेखक नाम के प्राणी को गरीब की जोरु को भौजाई बनाने का सुख लूट रहे हैं। जाने कब से। हालां कि देश भर में निरंतर लगने वाले पुस्तक मेले बहुत आश्वस्त करते हैं। गरज यह कि किताबें बिक रही हैं, तभी तो पुस्तक मेले लग रहे हैं। दिलचस्प यह कि हिंदी किताबें अब किलो भाव में भी बिकने लगी हैं। हिंदी की किताबें, हिंदी के अखबार हिंदुस्तान में किसी भी भाषा से ज्यादा बिकते हैं। लेकिन हिंदी का लेखक रायल्टी के नाम पर सिर्फ झुनझुना बजाता मिलता है। जब कि अंगरेजी का लेखक हिंदी की अपेक्षा बहुत कम बिकते हुए भी करोड़ों की रायल्टी पाता है। तो क्यों ?

सिर्फ इस लिए कि हिंदी लेखक एक कायर कौम है और हिंदी का प्रकाशक एक बेईमान कौम ! दुनिया भर में प्रतिरोध का डंका बजाने वाला हिंदी का लेखक हिप्पोक्रेट भी बहुत बड़ा है। पुरस्कारों, फेलोशिप और विदेश यात्राओं के जुगाड़ में नित अपमानित होता यह हिंदी लेखक शोषक और शोषित की बात भी बहुत करता है लेकिन अपने ही शोषण के खिलाफ बोल नहीं सकता। इस बाबत उकसाने पर भी कतरा कर आंख मूंद कर निकल जाता है। दुनिया भर के मजदूरों की बात बघारने वाला यह हिंदी लेखक अपनी ही मजदूरी की बात करना भूल जाता है। प्रकाशक से रायल्टी की बात तो छोड़िए उलटे प्रकाशक को पैसे दे कर किताब छपवाने की जुगत भी करता है। हिंदी का यह लेखक अकसर पाठक का रोना भी बहुत रोता है पर अपने बच्चों को वह पढ़ाता इंग्लिश मीडियम से ही है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियों का विरोध भी यह हिंदी लेखक बहुत ज़ोर-शोर से करता है लेकिन उस के बच्चे लाखों के पैकेज पर इन्हीं बहुराष्ट्रीय कंपनियों की नौकरियां करते हैं। आलम यह है कि अगर कोई बहुत बड़ा फन्ने खां हिंदी लेखक अगर रायल्टी मिलने की बड़ी हुंकार भरता मिले तो उस की हुंकार सुन लीजिए लेकिन यह बात तो जान ही लीजिए कि सिर्फ लेखन के दम पर यह हिंदी लेखक अपना और अपने घर के लोगों की चाय का खर्च भी नहीं उठा सकता है। बाकी कविता, कहानी, लेख आदि और सेमिनारों, गोष्ठियों-संगोष्ठियों वगैरह में तो अवमूल्यन, पतन और हेन-तेन आदि-आदि की जलेबी छानने और अति बघारने के लिए वह पैदा हुआ ही है। आप तो बस प्रणाम कीजिए हिंदी लेखक नाम के इस जीव को यह सोच कर कि अब तक यह ज़िंदा कैसे है ? बल्कि ज़िंदा क्यों है ? यह बात भी आप शौक से पूछ सकते हैं। यकीन मानिए वह कतई बुरा नहीं मानेगा। हां यह ज़रूर हो सकता है कि यह सवाल सुन कर वह बहरा हो जाए, इस बात को अनसुना कर दे, कोई झूठ बोल दे, कतरा कर निकल जाए या शुतुरमुर्ग की तरह रेत में सर घुसा ले ! यह अब उसी पर मुनःसर है। आप बस आजमा कर देखिए।

लेखकीय दुनिया में संपादकों , आलोचकों और प्रकाशकों को इंटरनेट ने एक गंभीर चुनौती दे दी है। इन सब की तानाशाही, हेकड़ी, दुकानदारी और मोनोपोली को छिन्न-भिन्न कर दिया है इंटरनेट ने। खास कर ब्लॉग और फेसबुक ने इन सब की कमर तोड़ दी है। कमाने वाला खाएगा की तर्ज पर जो कहूं कि अच्छा लिखने वाला ही अब पढ़ा जाएगा ! क्यों कि पाठक तो बहुत हैं। यह तिकड़ी व्यर्थ ही पाठक न होने का घड़ियाली आंसू बहा कर आंख में धूल झोंकती रही है। इंटरनेट ने इन का यह ड्रामा भी बिगाड़ दिया है कि हिंदी में पाठक नहीं हैं।

अच्छा जब पाठक खरीद कर भी पढ़ता है तो क्या पाठक की जेब से निकला पैसा लेखक को मिलता है ? हरामखोर प्रकाशकों की तिजोरी भरती है और बेईमान और मक्कार संपादकों की शराब चलती है ! यही तो फर्क है ? बड़े-बड़े अक्षरों में लिख कर रखिए कि पाठक-पाठक होता है। समय खर्च करता है पाठक पढ़ने में भी और पैसा खर्च करता है नेट के लिए भी। नेट भी मुफ्त में नहीं चलता। असली चुनौती ब्लॉग और साइट ने ही दी है इन लोगों को। फेसबुक तो सिर्फ कम्युनिकेशन का जरिया है। पाठक, पाठक होता है। गंभीर पाठक और फला पाठक का वर्गीकरण कोई मायने नहीं रखता है। और जो रखता है तो यह वर्गीकरण फिर किताबों और पत्रिकाओं के साथ भी उसी तरह लागू होता है।

दोस्तों ऊपर बिंदुवार कही गई बातें मुगालता बिलकुल नहीं है, हकीकत है। मैं गगन बिहारी नहीं हूं, न हवा हवाई बात करता हूं। यह मेरा निजी अनुभव है। अपने पाठक मित्रों की ज़मीन पर खड़ा हो कर पूरी ईमानदारी से बोल रहा हूं कि हिंदी में पाठक बहुत हैं। गड़बड़ अगर कहीं है तो यह चोर और बेईमान प्रकाशकों में है जो लेखक और पाठक संबंध खत्म कर सरकारी खरीद के खटमल बन गए हैं। दुकानों पर किताब ही नहीं रखते। मार्केटिंग भी एक चीज़ होती है, यह बात यह प्रकाशक नहीं जानते। पचास रुपए की किताब का दाम पांच सौ रुपए रखते हैं। तो हिंदी का पाठक इतना मूर्ख नहीं है कि पचास रुपए की चीज़ पांच सौ रुपए में खरीदे ! यह सब चीज़ें ठीक हो जाएं तो आप को दुनिया की किसी भी भाषा से अधिक पाठक हिंदी में दिखने लगेंगे जो कि हकीकत में हैं।

जिस हिंदी भाषा को बोलने और पढ़ने वाले करोड़ों लोग हों। जिस हिंदी भाषा के कवि सम्मेलनी कवियों को लाखों रुपए एक काव्य पाठ के लिए मिलने लगा हो, जिस हिंदी भाषा की फ़िल्में हफ़्ते भर में दो सौ, तीन सौ करोड़ रुपए कमा लेती हैं। जिस हिंदी में गीत, संवाद और विज्ञापनी स्लोगन लिख कर लोग करोड़ों रुपए हर साल कमा रहे हों। इसी हिंदी भाषा में अनूदित हो कर तमाम गैर हिंदी भाषी लेखकों की किताबें लाखों में बिकती हों। और यही प्रकाशक बेचते हैं। एडवांस दे कर अनुवाद करवाते हैं यही प्रकाशक। इसी हिंदी भाषा के प्रकाशक और संपादक को अपने पाठक क्यों नहीं मिलते ? ज़रूर प्रकाशक और संपादक ही इस के लिए ज़िम्मेदार हैं, उन में ही बड़ी खोट है, आप को नहीं लगता ?

दरअसल हिंदी में अजब घटतौली है। कमोबेश हर जगह। क्या प्रकाशक, क्या संपादक, क्या अखबार या पत्रिकाएं। सब के सब एक लेखक नाम के प्राणी को गरीब की जोरु को भौजाई बनाने का सुख लूट रहे हैं। जाने कब से। पहले जब लिखना शुरू किया था तब लगता था कि लिख कर हम अपने को कागज पर रख रहे हैं। सब के सामने आने के लिए। एक स्वर्गानुभूति भी कह सकते हैं। छपने का तो शुरू में सोचते भी नहीं थे। लिखना ही लिखना था। बाद के दिनों में कहीं छपना भी एक सपना हुआ करता था। छपना ही। पैसा नहीं। पैसे का सपना नहीं। लिख कर पैसा भी मिलेगा ऐसा कभी तब सोचा भी नहीं था।

जब पहली बार एक कविता आज अखबार में छपी तो लगा कि क्या पा गए हैं। दस रुपए का मनीआर्डर भी बाद में आया। तब के दिनों में दस रुपए की नोट का आकार भी आज के सौ रुपए के लगभग हुआ करता था। और उस का मूल्य तो आज के सौ रुपए से निश्चित ही ज्यादा था। यह 1977 या 1978 की बात है। बहुत दिनों तक क्या कई महीनों तक वह दस रुपए भी कभी इस किताब या उस किताब के पन्नों में सहेज कर रखे रहा था। जल्दी ही आकाशवाणी से युववाणी कार्यक्रम में कविता पढ़ने पर पचीस रुपए का चेक मिला। रेडियो पर कविता पढ़ने का सुख अलग और पैसा पाने का सुख अलग। कवि सम्मेलनों में तो कभी कभार सौ रुपए तक मिले। मार्ग व्यय अलग। पर कविता पढ़ने और छपने का ही सुख ज्यादा बड़ा था। पैसे का नहीं। क्यों कि मुझे याद है कि वह पहला चेक भी जो आकाशवाणी से मिला था, बहुत दिनों तक सहेज कर रखे रहा था। बाद में लोगों ने बताया कि तीन महीने बाद चेक की वैल्यू खत्म हो जाएगी। तब कहीं स्टेट बैंक जा कर वह चेक भुनाया था। तब विद्यार्थी था और कोई ऐसी वैसी आदत थी नहीं कि पैसे उड़ा देता।

बाद के दिनों में तो छपना भी नियमित हो गया। और पारिश्रमिक कहिए, मानदेय कहिए वह बढ़ कर कहीं पचीस तो कहीं तीस रुपए का हो गया। आज, दैनिक जागरण या इन की कंचनप्रभा या अवकाश पत्रिकाओं में भी। नवभारत टाइम्स या हिंदुस्तान अखबार में भी। आकाशवाणी पर भी चालीस रुपए मिलने लगे। नाटक लिखने के तो डेढ़ सौ रुपए मिलने लगे। और 1978 में ही सारिका में प्रेमचंद पर एक फ्रीचर छपा तो डेढ़ सौ रुपए मिले। धर्मयुग, दिनमान और साप्ताहिक हिंदुस्तान से भी कभी डेढ़ सौ रुपए से कम का भुगतान नहीं मिला। रविवार ने तभी दो सौ रुपए का भी चेक भेजा था। बावजूद इस सब के तब भी पैसा नहीं, रचना का छपना ही महत्वपूर्ण था।

नया प्रतीक में अज्ञेय जी ने एक गीत छपा उन्हीं दिनों। सब्यसाची ने उत्तरार्द्ध में कविता छपी। एक पैसा नहीं मिला। पत्रिका भी खरीदनी ही पड़ी। लेकिन यहां छपने का सुख और ज्यादा था। उन्हीं दिनों एक रिपोर्ट दिनमान को भेजी थी। वह मत सम्मत में छप गई। मुझे बहुत बुरा लगा। मैं ने तब रघुवीर सहाय को एक चिट्ठी लिख कर अपना कड़ा प्रतिरोध दर्ज करवाया था। मैं ने लिखा था कि संपादक के नाम पत्र नहीं रिपोर्ट भेजी थी आप को। और आप ने उसे पत्र बना दिया। सहाय जी का जवाब आया था। उन्होंने लिखा था कि दिनमान का मत सम्मत भी महत्वपूर्ण होता है। आप की रिपोर्ट तभी छापनी जरूरी लगी और अन्यत्र जगह थी नहीं, बाद में विलंब हो जाता इस लिए मत सम्मत में प्रकशित की गई। आप निश्चित रहें आप को पारिश्रमिक भी समय से भेजा जाएगा। समय से मुझे डेढ़ सौ रुपए का चेक मिला भी। उन दिनों लगभग परंपरा सी थी तब सभी जगह कि रचना छपने के तीन महीने बाद ही भुगतान मिल जाता था। किसी से कुछ कहना या लिखना नहीं होता था।

मुझे याद है कि अमृत प्रभात तो तब मनीआर्डर का कमिशन भी काट लेता था। पोस्टमैन को दिक्कत होती थी चालीस रुपए के पेमेंट में सैंतीस रुपए कुछ पैसे देने में। दिल्ली प्रेस की पत्रिकाएं तो रचना स्वीकृत करने के साथ ही डेढ़ सौ रुपए का चेक भेज देती थीं। रचना चाहे जब छपे। बाद के दिनों मैं गोरखपुर से दिल्ली चला गया सर्वोत्तम रीडर्स डाइजेस्ट में नौकरी करने लगा। वहां यह देख कर मुदित हो गया कि एक लेख के पांच हजार रुपए से भी अधिक का पारिश्रमिक मिलता था। यह 1981 की बात है। बाद में जनसत्ता गया नौकरी करने। 1983 में। तो वहां भी एक लेख के तब तीन सौ से पांच सौ तक का पारिश्रमिक दिया जाता था। और पूरे सम्मान से। न संपादक घिघियाते थे न लेखक। हां यह जरूर

कई बार देखा कि अगर लेखक को ज़रूरत है तो रचना या लेख छपते ही संपादक एक चिट्ठी प्रबंधन को लिख देते थे और उस का भुगतान तुरंत मिल जाता था। मुझे खुद कई बार ऐसा सुख मिला है। दिनमान में रघुवीर सहाय और सारिका में कन्हैयालाल नंदन ने ऐसी कई चिट्ठियां मेरे लिए लिखीं और मुझे तुरंत भुगतान मिल गया।

यही हाल प्रकाशकों का भी तब के दिनों था। मेरा पहला उपन्यास दरकते दरवाजे 1983 में प्रभात प्रकाशन के श्यामसुंदर जी ने छपा था। उपन्यास स्वीकृत होते ही उन्होंने अनुबंध किया और ढाई हजार रुपए तुरंत नकद दिए। यही काम हिंदी पुस्तक संस्थान के प्रकाशक ने किया। जिस ने मेरा पहला कहानी संग्रह संवाद और दूसरा उपन्यास जाने अनजाने पुल छपा था। किताब छपने के पहले ही पैसा दे दिया। हिंद पाकेट बुक्स के दीनानाथ जी ने भी यही किया। पर अब ?

अब यह सब बीते समय की बातें हैं। कहें कि बीता युग है। प्रकाशक कहते हैं कि किताब अब बिकती नहीं। पैसा कहां से दें ? हालत यह है कि प्रकाशक कागज़ से लगायत छपाई, बाइंडिंग तक के पैसे कई बार ऐडवांस दे देता है। दुकानदारों को 40 से 50 प्रतिशत कमिशन देता है। सरकारी खरीद के लिए अफसरों को अस्सी प्रतिशत तक रिश्वत देता है। खरीद के पहले ही। कई बार यह पैसा डूब भी जाता है तो भी देता है। पर नहीं देता तो सिर्फ लेखक को सो काल्ड रायल्टी नहीं देता। उस को पसीना आ जाता है। तमाम किस्म की दिक्कतें आ जाती हैं। और वह घुमा देता है। तो क्यों ? और तो और अब तो बहुतायत में लोग प्रकाशक को पैसा दे कर किताबें छपवाने लगे हैं। सारा खर्च लेखक का और सारा फ़ायदा प्रकाशक का।

निर्मल वर्मा ने अपने निधन के कुछ समय पहले राजकमल प्रकाशन से अपनी रायल्टी का हिसाब मांगा। उन का निधन हो गया पर राजकमल वाले माहेश्वरी बंधु ने उन की रायल्टी का हिसाब तब नहीं दिया। उन के निधन के बाद उन की पत्नी गगन गिल ने हिसाब मांगा। राजकमल के स्वामी ने देश भर के लेखकों को चिट्ठी लिख कर दुनिया भर की बातें बताईं पर गगन गिल को रायल्टी का हिसाब नहीं दिया। राजकमल वालों ने अपने पत्र में गगन जी की चरित्र हत्या तक की कोशिश की। और प्रकारांतर से यह जताने की कोशिश की कि गगन गिल निर्मल वर्मा की पत्नी नहीं रखैल हैं। चिट्ठी में कहा कि निर्मल जी की व्याहता पत्नी की एक बेटी भी है। गगन गिल को भी मजबूर हो कर देश भर के लेखकों को चिट्ठी लिख कर अपनी सफाई देनी पड़ी। गगन जी को विवश हो कर लिखना पड़ा कि मैं निर्मल वर्मा की व्याहता पत्नी हूँ। और कि वह अपनी वसीयत में सब कुछ मुझे सौंप गए हैं। किताबों की कापीराइट भी। और कि उन की बेटी को भी किसी बात पर ऐतराज़ नहीं है। फिर भी राजकमल ने उन्हें रायल्टी नहीं दी। फिर तो हर पुस्तक मेले में वह निर्मल जी की किताब ले कर राजकमल के खिलाफ़ खड़ी होने लगीं, लंबी कानूनी लड़ाई लड़ी। फिर कहीं राजकमल से निर्मल जी की सारी किताबें उन्होंने वापस लीं।

निर्मल वर्मा ने अपने निधन के पहले एक लेख भी लिखा था इस मामले पर। इस लेख में उन्होंने ने बताया था कि दिल्ली में हिंदी के कई प्रकाशकों को वह व्यक्तिगत रूप से जानते हैं। जिन के पास हिंदी की किताब छापने और बेचने के अलावा कोई और व्यवसाय नहीं है। और यह प्रकाशक कहते हैं कि किताब बिकती नहीं। फिर भी वह यह व्यवसाय कर रहे हैं। न सिर्फ़ यह व्यवसाय कर रहे हैं बल्कि मैं देख रहा हूँ कि उन की कार लंबी होती जा रही है, बंगले बड़े होते जा रहे हैं, फ़ार्म हाऊसों की संख्या बड़ी होती जा

रही है तो भला कैसे ?

निर्मल जी के इस सवाल का किसी प्रकाशक ने आज तक पलट कर जवाब देने की ज़रूरत नहीं समझी। एक बार नेशनल बुक ट्रस्ट के पुस्तक मेले में रवींद्र कालिया ने कहा कि प्रकाशक अब पांच सौ से तीन सौ प्रतियों के संस्करण पर आ गए हैं। बाद में जब वह मंच से उतर कर चाय वाय पीने लगे तो मैं ने उन से कहा कि उत्तर प्रदेश में आप के कुछ मित्र आई. ए. एस. अफ़सर हैं। कुछ सरकारी खरीद की जानकारी मैं आप को दे रहा हूँ। आप चाहें तो अपने दोस्तों से कह कर यह तो पता करवा ही सकते हैं कि किस किस खरीद में आप की कौन-कौन सी किताब कितनी-कितनी खरीदी गई है। पता चल जाएगा कि किताब कितनी छपती है ? पर जाने क्यों कालिया जी ने बात को सुन कर अनसुना कर दिया। कुछ बोले नहीं। शायद वह हमाम का नंगापन जानते रहे होंगे तभी चुप रहे।

उन दिनों आर टी आई नहीं था। पर अब तो है। पर मुझे नहीं मालूम कि किसी लेखक ने यह आर टी आई अपनी किताब खरीद के बाबत आजमाया है। सचाई यह है कि प्रकाशक किसी किताब का पहला संस्करण ज़रूर पांच सौ का छापते हैं। पर यह बेचने के लिए नहीं। सिर्फ़ सबमिशन के लिए। इतनी योजनाओं में इतनी खरीदें हैं कि यह पांच सौ किताबें भी सबमिशन के लिए कम पड़ जाती हैं प्रकाशकों को। फिर तो जैसे-जैसे आर्डर मिलता जाता है किताबें छपती जाती हैं। एक-एक हफ़्ते में कई-कई संस्करण एक किताब के छप जाते हैं। लेकिन प्रकाशक के यहां लेखक के लिए वही पहला संस्करण दिखता रहता है। दस साल बाद भी अगर उसी किताब का पहला संस्करण बिल्कुल ताज़े कागज़ पर दिख जाए तो हैरत में बिलकुल नहीं पड़ें। आप का ही कहानी संग्रह आप ही के नाम से किसी और प्रकाशक या किसी और शीर्षक से छपा मिल जाए तो भी मत चौंकिए।

सरकारी खरीद का गुणा-भाग मान लीजिए इसे। लेखक छोटा है या बड़ा इस से भी इन बातों को कोई फ़र्क नहीं पड़ता। मेरा पहला उपन्यास जब छपा था तो कह सुन कर उस की समीक्षा कई जगह छपवा ली। अच्छी-अच्छी। कुछ जगह अपने आप भी छप गई। तो मेरा दिमाग थोड़ा खराब हुआ। मन में आया कि अब मैं बड़ा लेखक हो गया हूँ। कोई पचीस-छब्बीस साल की उम्र थी, इतराने की उम्र थी, सो इतराने भी लगा। प्रभात प्रकाशन के श्यामसुंदर जी ने इस बात को नोट किया। एक दिन मेरे इतराने को हवा देते हुए बोले, 'अब तो आप बड़े लेखक हो गए हैं! अच्छी-अच्छी समीक्षाएं छप गई हैं।' मैं ने ज़रा गुरुर में सिर हिलाया। और उन से बोला, 'आप का भी तो फ़ायदा होगा!'

'वो कैसे भला ?'

'आप की किताबों की सेल बढ़ जाएगी ! मैं ज़रा नहीं पूरे रौब में आ कर बोला।

'यही जानते हैं आप ?' श्यामसुंदर जी ने अचानक मुझे आसमान से ज़मीन पर ला दिया। अमृतलाल नागर, अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि तमाम बड़े लेखकों की किताबों के साथ मुझ जैसे कई नए लेखकों की कई किताबें एक साथ मेज़ पर रखते हुए वह बोले, 'इन में से सभी लेखकों की किताबें बेचने के लिए मुझे एक जैसी तरीक़ीब ही लगानी पड़ती है।'

'क्या ?' मैं चौंका।

‘जी!’ वह बोले, ‘बिना रिश्वत के एक किताब नहीं बिकती। वह चाहे बड़ा लेखक हो या घुरहू कतवारु। सब को रिश्वत दे कर ही बेचना होता है। बाज़ार का दस्तूर है यह। बड़ा लेखक दिखाऊंगा तो दो चार किताबें खरीद ली जाएंगी। तो उस से तो हमारा खर्च भी नहीं निकलेगा।’

हकीकत यही थी। मैं चुप रह गया था तब। पर तब श्यामसुंदर जी, दीनानाथ जी या अन्य प्रकाशक भी लेखक को रायल्टी के नाम पर कुछ पैसा देते जरूर थे। उन दिनों यह एक चलन सा था कि अगर हज़ार पांच सौ रुपए की तुरंत जरूरत हो तो बच्चों की पांच सात छोटी-छोटी कहानियां लिख कर प्रकाशक के पास चले जाइए पैसा मिल जाता था। श्रीलाल शुक्ल बताते थे कि एक बार वह दिल्ली गए तो राजकमल प्रकाशन की तब की मालकिन शीला संधु मिलने आईं। नई किताब मांगी। बेटे ने एडवांस के रूप में पचास हज़ार रुपए मांग लिया। दूसरे दिन शीला जी ने पचास हज़ार रुपए भिजवा भी दिए। यह अस्सी के दशक की बात है। अब मैं खुश कि हिंदी के लेखक की यह हैसियत हो गई है कि एक किताब के पचास हज़ार रुपए एडवांस भी मिल सकते हैं। पर बाद में पता चला कि यह खुशी बेकार ही थी। साल के आखिर में जब किताबों की रायल्टी का हिसाब हुआ तो वह पचास हज़ार रुपया उस में एडजस्ट हो गया।

एक घटना और। श्रीलाल जी बाद में प्रकाशकों और अखबार वालों की कृपणता से इतने उकता गए कि एक बार अमर उजाला में उन का इंटरव्यू छपा तो उन्होंने ने बाकायदा अखबार को नोटिस दे कर उस इंटरव्यू का पैसा मांग लिया। हिंदी में अभी तक यह चलन नहीं है कि आप किसी को इंटरव्यू लेने के लिए पैसे दें। हां उलटे कुछ फ़िल्म स्टार या कुछ व्यवसायी जरूर ऐसा करते हैं कि पैसा दे कर इंटरव्यू छपवाते हैं। पर कई सारी भाषाओं में चलन है कि इंटरव्यू लेने के लिए भी संबंधित व्यक्ति को पैसे देने पड़ते हैं। याद कीजिए फूलन देवी के इंटरव्यू जिस पत्रकार ने लिए थे और उस की बायग्राफी लिखी थी उस ने फूलन देवी को बाकायदा और अच्छा खासा भुगतान दिया था, एडवांस। साथ में रायल्टी भी शेयर की थी। तो श्रीलाल जी ने नोटिस दे कर पैसा मांगा। अखबार के हाथ पांव फूल गए। रिपोर्टर को तलब किया गया। सब कुछ किया गया पर अंततः श्रीलाल जी को अखबार ने पैसा नहीं दिया तो नहीं दिया। माफी मांग कर इतिश्री कर ली।

श्रीलाल जी को जब लगातार कुछ पुरस्कार मिले तो वह एक बार बहुत प्रसन्न हो कर कहने लगे कि इतना पैसा तो रायल्टी में भी नहीं मिला अब तक। एक बार मनोहर श्याम जोशी को एक अखबार ने एक पुरस्कार योजना के निर्णायक मंडल में मनोनीत किया तो उन्होंने ने छूटते ही पूछा कि पैसा कितना मिलेगा? सुनने वालों को यह अच्छा नहीं लगा। लोगों को लगा कि हिंदी का लेखक पैसा भी मांग सकता है? यह सब हिंदी के लेखकों के साथ ही क्यों होता है भला?

सोचिए कि एक समय उत्तर प्रदेश में हिंदी संस्थान के 83 पुरस्कारों में से 80 पुरस्कार मायावती ने एक झटके में खत्म कर दिए। अशोक वाजपेयी ने इस के विरोध में भारत भारती जैसा संस्थान का सर्वोच्च पुरस्कार लेने से इंकार कर दिया। पर मायावती सरकार के कान पर जूं नहीं रेंगा। जब कि यहीं उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी का एक भी पुरस्कार छूने की हिम्मत मायावती की नहीं हुई। उलटे पुरस्कार राशि में बढ़ोतरी कर उसे पांच लाख का कर दिया। जब कि हिंदी में भारत भारती ढाई लाख का ही तब रहा था। बाद में अखिलेश यादव सरकार ने पांच लाख किया। यही नहीं आप देख लीजिए कि हिंदी में दिए जाने

वाले साहित्य अकादमी, ज्ञानपीठ या व्यास सम्मान धनराशि के मामले में भी बुकर, मैगसेसे या नोबल के आगे किस कदर बौने की हैसियत में भी खड़े नहीं हो पाते। तब जब कि यह दुनिया में सब से ज्यादा लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है। और तो छोड़िए कौन बनेगा करोड़पति समेत जाने कितने शो हैं जिस में लोग आनन फानन जाने लाखों या करोड़ों रुपए पा जाते हैं।

बताते हुए खुशी होती है कि कहानी उपन्यास आदि की मेरी कोई 40 किताबें हैं। पर प्रकाशक से जब कभी रायल्टी की बात चलाता हूं तो बस एक ही जवाब होता है। प्रकाशक कहता है कि आप की रायल्टी तो यह अफ़सर खा जाते हैं। इन अफ़सरों से छुट्टी दिलवाइए तो आप को रायल्टी देता हूं। इस में सारा संकेत यह होता है कि मैं अपनी किताबों की सरकारी खरीद खुद करवाऊं कह सुन कर या जैसे भी। तो वह कमीशन या रिश्वत जो सरकारी अमला खाता है उस का कुछ टुकड़ा मेरे हिस्से भी आ जाएगा। सो मैं हाथ जोड़ लेता हूं। और बिना रायल्टी के ही संतोष करता हूं। पैसा दिए बिना किताब छप जाती है यही सोच कर खुश हो लेता हूं।

असल में हुआ यह कि इधर के दिनों में तमाम सरकारी अफ़सर-कर्मचारी भी लेखक हो चले हैं। सो वह किताब छापने के लिए पैसे भी देते हैं, खरीद भी करवाते हैं। खुद भी कमाते हैं और प्रकाशक को भी कमवाते हैं। पहले के दिनों में ऐसा वैसा कुछ विश्वविद्यालयों के अध्यापक करते थे। पाठ्यक्रम की चार किताबों के साथ अपनी कोई कविता कहानी की किताब भी थमा देते थे। खरीद समितियों में भी वह होते ही होते थे। सो प्रकाशक उन्हें उपकृत करते रहते थे। पर यह सब कुछ दबे ढंके था। पर अफ़सरों के लेखक बनने और विश्वविद्यालयों के अध्यापकों को प्रोन्नति किताब के आधार पर कर देने से खुला खेल फरुखावादी हो चला है।

बहुतेरे प्रकाशक तो लेखकों से किताब छापने का पैसा ले कर डकार भी जाते हैं। किताब नहीं छापते। पैसा भी वापस नहीं देते। कई बार कुछ प्रकाशक पैसा ले कर भाग भी जाते हैं। अकसर ऐसी खबरें सुनने को मिलती हैं। लेखकों में खेमेबाजी का नमो अंधकारम अलग है। रिश्वत अब ग्लोबलाइज है। हिंदी किताबें भी इस का शिकार हैं। लेकिन यही भर कह देने से काम नहीं चलता। हकीकत यह है कि यही हिंदी प्रकाशक जब अरुंधति राय या तसलीमा नसरीन को छापने पर आते हैं तो उन के पास घुटने टेकते हुए पहुंचते हैं और एडवांस और मुंहमांगी रायल्टी दे कर किताब का आनन फानन अनुवाद एडवांस दे कर सर के बल हो कर करवाते हैं। तो क्या हिंदी में किताब बिकती है? कोई इन प्रकाशकों से नहीं पूछता। सोचिए कि बांगला के विमल मित्र तक के परिवार के लोगों को यही हिंदी प्रकाशक रायल्टी देते नहीं अघाते। तो फिर यह सारी नौटंकी सिर्फ हिंदी लेखकों के लिए ही है?

कारण साफ है कि सरकार भी नहीं चाहती कि लोग पढ़ें। वह चाहती ही है कि लोग टी.वी. के सास बहू, लाफ़्टर चैलेंज, बिग बास टाइप के फालतू कार्यक्रम देख कर नपुंसक विचारों के हवाले हो जाए। क्यों कि अगर लोग पढ़ेंगे तो सोचेंगे। सोचेंगे तो सिस्टम और सरकार के खिलाफ ही तो सोचेंगे? पर लोग हैं कि लिखना छोड़ नहीं रहे। तो सरकार लोगों के लिखे को सरकारी लाइब्रेरी में कैद करती जा रही है। प्रकाशक मालामाल होते जा रहे हैं। अफ़सरों की ज़ेब भरती जा रही है। अब कितने लोग जानते हैं कि सिर्फ साक्षरता की हिंदी किताबों के नाम पर ही एक-एक ज़िले में करोड़ों रुपए का बजट हर साल स्वाहा हो जाता है! बाकी की तो खैर बात ही क्या? हालत यह है कि सभी प्रदेशों में तमाम विभागों के अलग-

अलग बजट हैं हिंदी किताबों खातिर। मानव संसाधन विभाग राजा राममोहन राय योजना की खरीद में हर साल न सिर्फ़ करोड़ों-करोड़ रुपए हिंदी किताबों की खरीद पर खर्च करता है बल्कि किताब रखने के लिए आलमारी तक खरीदने का बजट भी देता है। जो लेखक या अधिकारी इस की खरीद समिति में आते हैं एक ही साल में मालामाल हो जाते हैं। बहुतेरे विदेशी भाषाओं की किताबें भी प्रकाशक इस खरीद में पाट देते हैं। वह किताबें जो रायल्टी से फ़्री हैं। टालस्टाय, हेमिंग्वे से लगायत प्रेमचंद, शरतचंद आदि भी। यानी जो रायल्टी से फ़्री हो गई किताब हो प्रकाशक को मुफ़ीद पड़ती है। नामा और नाम दोनों ही उन के हिस्से आ जाते हैं। सरकारी अमला आंख मूंद कर खरीद जारी आहे! की मुनादी करता रहता है।

बताते हुए तकलीफ़ होती है कि एक बार तो इस खरीद समिति के अध्यक्ष एक नामवर आलोचक बनाए गए थे। सारी खरीद उन्होंने ने अपने एक चहेते प्रकाशक को ही थमा दी। इतनी कि दाल में नमक हो गया। जांच शुरु हो गई। जेल जाने की नौबत आ गई। कि एक नामवर कवि और आलोचक ने अपने प्रशासनिक अधिकारी होने का हुनर दिखाया। और अध्यक्ष महोदय बच गए। बचाने वाले को ज़िंदगी भर खारिज़ किए रहे थे, उस से उपकृत हो कर उसे साहित्य अकादमी से नवाज़ दिया। बात चर्चा-कुचर्चा में ही निपट गई। अभी कुछ समय हुए एक पद्मश्री प्राप्त पत्रकार ने भी राम मोहन राय ट्रस्ट की किताब खरीद में बतौर अध्यक्ष एक ही प्रकाशक को करोड़ों रुपए की किताब खरीद के आदेश दे दिए। यह और ऐसे तमाम प्रसंग किताब खरीद के किस्सों से रंगे पड़े हैं। रेलवे, सेना, बैंकों और दूतावासों में भी हिंदी किताबों की भारी खरीद होती है। और हमारे प्रकाशक लोग जब लेखकों को रायल्टी देने की बात आती है तो कहते हैं कि क्या करें किताबें बिकती ही नहीं। और गुस्सा तब आता है जब इन खरीद कमेटियों में शामिल मठाधीश लेखक भी यह सब कान में तेल डाल कर न सिर्फ़ सुनते रहते हैं बल्कि यथास्थितिवादी बन आंख भी मूंदे रहते हैं।

एक समय जब दूरदर्शन का ज़माना था तब के दिनों धारावाहिकों में काम करने वाले कलाकारों का शोषण बहुत बढ़ गया था। ज्यादातर निर्माता कलाकारों का पारिश्रमिक घाटा हो गया के नाम पर मार देते थे। जब अति हो गई तब दूरदर्शन ने एक नियम बना कर निर्माता को कलाकारों की तरफ़ से एन.ओ.सी. देना अनिवार्य कर दिया। अगर कोई कलाकार निर्माता के खिलाफ़ अगर झूठ भी शिकायत कर देता तो उस का प्रसारण और भुगतान रोक दिया जाता था। कलाकारों का शोषण लगभग रुक गया। अब कोई शोषण करवाने पर ही आमादा हो तो बात और है। तो क्या यह सरकारें भी ऐसा कुछ नहीं कर सकतीं? कि लेखकों की एन.ओ.सी. कि किताब की रायल्टी मिली, तभी किताबों का भुगतान करे। और कि यह भी ज़रूर सुनिश्चित करे सरकार कि उस किताब का सचमुच ही पहला संस्करण है और कि वह अनूदित किताब नहीं है। अनूदित किताब का कोटा भी सुनिश्चित कर दिया जाए। न सही पूरी तरह अधिकांश समस्या तो खत्म होगी ही। नहीं अपने देश में हिंदी के लेखकों की हैसियत किसानों मज़दूरों से भी गई बीती है। कि उन्हें अपने काम की मज़दूरी नहीं मिलती बल्कि इस बारे में प्रकाशक, लेखक, सरकार या समाज सोचता भी नहीं। यह कौन सा समाज हम गढ़ रहे हैं? इस पर अब सोचना बहुत ज़रूरी हो गया है।

किताबों की सरकारी खरीद में वैसे एक नियम है, खास कर राजा राम मोहन राय ट्रस्ट की किताबों की खरीद में तो है कि लेखकों को रायल्टी मिल गई है की एन ओ सी प्रकाशक सरकार को दे। प्रकाशक

लेखक की यह एन ओ सी देते भी हैं , सरकार को । लेकिन फर्जी । लेखक को तो पता भी नहीं चलता कि कब कितनी और कौन सी किताब खरीदी गई और क्या रायल्टी बनी । इस बात की चर्चा मैं ने लखनऊ में एक आर टी आई एक्टिविस्ट नूतन ठाकुर से की जो एक आई पी एस अफसर अमिताभ ठाकुर की पत्नी हैं । तय हुआ कि वह हाईकोर्ट में इस बाबत एक याचिका दायर कर सरकार को निर्देश दिलवाएंगी कि लेखकों की रायल्टी सीधे लेखकों के खाते में सरकार भिजवाया करे । फिर बात आई कि इस बारे में कुछ लेखक लिख कर दें ताकि याचिका को बल मिले । तब के दिनों श्रीलाल शुक्ल , कामतानाथ , मुद्राराक्षस आदि लेखकों से इस बाबत मैंने बात की । पर यह सभी लेखक दाएं-बाएं हो कर कतरा गए ।

अब यह लोग नहीं रहे । लेकिन उन्हीं दिनों मैं ने शिवमूर्ति और वीरेंद्र यादव जैसे कई लेखकों से भी बात की थी । एक शिवमूर्ति तैयार हुए । शिवमूर्ति ने इस बारे में दिल्ली में बलराम से चर्चा की । बलराम भी वीर रस में आए । लेकिन अफसोस कि आज तक एक भी लेखक की दस्तखत इस बाबत नहीं मिल सकी । आगे भी खैर क्या मिलेगी । मुद्राराक्षस ने तभी कहा था कि आधा-अधूरा ही सही कुछ रायल्टी तो यार मिल ही जाती है । अब ऐसा करेंगे तो यह प्रकाशक छापना ही बंद कर देंगे तो क्या करेंगे ? ऐसा ही और भी लेखकों ने घुमा-फिरा कर कहा । गरज यह कि लेखक चूहा हैं और प्रकाशक बिल्ली । फिर वही बात की बिल्ली के गले घंटी बांधे कौन ?

अब यह घटतौली भी कैसे जाए भला ? वह भी हिंदी से ? यह सब तब है जब हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा भले न हो बाज़ार की सब से बड़ी भाषा है इस दुनिया में । हिंदी से ज्यादा न सिनेमा बनता है, न धारावाहिक, न अखबार हैं हिंदी से ज्यादा, न हिंदी से ज्यादा किताबें छपती हैं इस देश में न हिंदी से ज्यादा खुदरा बाज़ार है यहां । फिर भी हिंदी का लेखक रायल्टी नहीं पाता । गिनती के कुछ लोग पाते भी हैं तो कैसे और कितना पाते हैं, वह ही जानते हैं । सच यह है कि पाठ्यक्रम जो न हो हिंदी का तो रायल्टी शब्द भी हिंदी किताबों की दुनिया से उठ जाए । हिंदी फ़िल्मों के पटकथा और संवाद लेखकों की हैसियत कुछ बहुत अच्छी नहीं है । हिंदी पत्रकारों की तो और बुरी गत है । देश के किसानों के लिए सरकार कम से कम न्यूनतम समर्थन मूल्य तो घोषित करती है, हिंदी के पत्रकारों को तो न्यूनतम वेतन भी नहीं मिलता । एक रिक्शे वाले से भी कम वेतन है उस का । और बहुत सारे संवाद सूत्रों को तो वेतन भी नहीं मिलता । मुफ्त में काम करते हैं । हिंदी लेखकों की और बुरी हालत है । किसी बंधुआ मज़दूर से भी गए गुज़रे हैं ।

एक समय था कि अखबार लेखकों न सिर्फ़ मान देते थे बल्कि ज्यादातर अखबारों में लेखक ही संपादक भी होते थे । इलाचंद्र जोशी, रामानंद दोषी, गोपाल प्रसाद व्यास से लगायत अज्ञेय, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, कमलेश्वर, मनोहर श्याम जोशी, कन्हैयालाल नंदन, राजेंद्र अवस्थी, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भैरव प्रसाद गुप्त, अमरकांत आदि की एक लंबी सूची है । किस किस का नाम गिनाएं । वह तो जब से संपादक का काम दलाली और लायजनिंग हो गया तो यह परंपरा टूट गई । छूट गया अखबारों से यह साहित्य, संस्कृति आदि का स्पेस । इस की भी कथा बहुत पुरानी नहीं है । हुआ यह कि जब अखबारी सिस्टम भी ग्लोबलाइजेशन के हत्थे चढ़ गया तब संपादक नाम की संस्था प्रबंधन के हाथ लाचार हो गई । संपादक नाम की संस्था का क्षरण हो गया । मैनेजर लोग तय करने लगे कि क्या छपेगा और क्या नहीं । यह पेड न्यूज़ का घड़ा जो बीते दिनों फूटा है वह तो बहुत दिनों से चल रहा था ।

शुरुआत अंगरेजी अखबारों में कामर्स की खबरों से हुई। उन्हीं दिनों क्रिकेट में भी पैसे का ज्वार आया तो क्रिकेट के अपने सचिन तेंदुलकर टाइप लोग भी सक्रिय हो गए। और देखिए न कि सिर्फ पैसे के लिए जीने वाले लोग भगवान होने लगे। तो यह सब प्री पेड न्यूज़ का ही चमत्कार था। फ़िल्मों में प्रायोजित खबरों का चटखारा पहले ही से था। सोचिए कि राजेश खन्ना जैसे अभिनेता देवयानी चौबल जैसी पत्रकार को रखल बना कर रखते थे और अपने मन मुताबिक खबरें प्लांट करवाते थे। ऐसी अनगिनत कहानियां बिखरी पड़ी हैं। बाद के दिनों में तो पी आर एजेंसियों का चलन ही हो गया और खुल्लमखुल्ला। तो इन पी आर एजेंसियों ने ऐड एजेंसियों से फ़िल्मी पन्ने बनवा कर अखबारों को प्रायोजित करना शुरु किया। धीरे-धीरे आग फैल गई। सभी अखबार इस आग की चपेट में आ गए। संपादक जो बिठाए गए थे इन अखबारों में प्रबंधन की हां में मिलाते रहे।

टी.वी धारावाहिकों के प्रायोजित पन्ने भी अखबारों पर धावा बोल बैठे। अब नंगी अधनंगी औरतों की फ़ोटो आम हो गई हर अखबार में। अब साहित्य कौन सी चिडिया थी, कौन सी गौरैया थी जो इन अधनंगी फ़ोटुओं में फुदकने की हिमाकत करती भला? प्राण ले लिए अखबारों ने इस गौरैया के, इस चिडिया के। अब देखिए न कोई फ़िल्म रिलीज़ होती है तो फ़ौरन सभी चैनलों पर उन के प्रमोशन कार्यक्रम के तहत सारे हीरो हिरोइन बैठ जाते हैं। एक से एक बकवास फ़िल्में करोड़ों रुपए बटोर कर चंपत हो जाती हैं।

राजनीति में भी अमर सिंह और राजीव शुक्ला जैसे लोगों की आमद हो गई। तो इन लोगों ने नमक में दाल की रवायत राजनीतिक खबरों में भी चला दी। कि एक ग्राम सच में कुंटल भर का गप्प। इसे प्रायोजित खबर का नाम दिया गया। धीरे-धीरे इसे पेड न्यूज़ का नाम दे दिया। खास कर चुनावी दिनों में। कुछ अखबार तो रेट कार्ड छाप कर घूमने लगे। अब खुला खेल फरुखाबादी हो गया तो भांडा फूट गया। प्रभाष जोशी जैसे लोग खड़े हो गए। इस पेड न्यूज़ के खिलाफ। अब काटजू ही क्या जिस को देखिए वही पेड न्यूज़ के नाम पर शुरु हो जाता है। अब काटजू की हिप्पोक्रेसी देखिए कि पेड न्यूज़ जिस की नींव इतनी पक्की हो गई है कोई अभी हाल फ़िलहाल तो कुछ नहीं कर सकता पर उस पर वह बोलते रहे थे। लेकिन मजीठिया वेज बोर्ड को सभी अखबार मालिक धता बताए बैठे हैं, उस पर वह सांस नहीं ले पाए कभी। चाहिए तो उन को यह था कि मजीठिया वेज बोर्ड को ले कर हल्ला बोल दिए होते। पर नहीं पेड न्यूज़ की फटी ढोलक बजाना उन्हें ज्यादा मुफ़्रीद लग रहा है। क्यों कि इस में मालिकों से सीधे उन्हें टकराना नहीं पड़ेगा। तो पेड न्यूज़ की प्याज खाते रहे।

नहीं मुझे याद है कि जब पहले पालेकर और फिर बाद में बच्छावत लगा था तो कोशिश यही थी कि एक सब एडिटर का वेतन कम से कम यूनिवर्सिटी के लेक्चरर बराबर तो हो ही। पर अब क्या है? एक प्राइमरी स्कूल का अध्यापक भी पहली तनखाह बीस हज़ार रुपए की पाता है। विश्वविद्यालयों में तो लोग लाखों का वेतन पाने लगे हैं। पर दिल्ली जैसी जगह में बड़े-बड़े अखबारों में लोग पांच-पांच हज़ार रुपए में काम कर रहे हैं। लखनऊ में तो दो-दो हज़ार रुपए में। सोचिए कि आज की तारीख में मनरेगा में काम करने वाला मज़दूर भी इस से ज्यादा ही कमा लेता है, वह भी अपने गांव घर में बैठ कर ही। एक रिक्शा वाला भी इस से ज्यादा कमा लेता है।

काटजू साहब इस पांच हज़ार या दो हज़ार की पगार पाने वाले से आप कैसे उम्मीद कर रहे थे कि वह

अर्थशास्त्र और इतिहास भी जाने ही जाने। हां एक से एक स्वनामधन्य भी हैं जो लाखों रुपए महीने की पगार पा रहे हैं। और कि मीडिया को बरबाद कर रहे हैं। हालां कि एक समय था कि डेढ़ दो सौ या ढाई सौ रुपए पा कर भी वह पत्रकार सिर पर स्वाभिमान टांगे घूमते थे और सेटों की नौकरियों को जब चाहते थे लात मार कर निकल जाते थे। नौकरी की खाक परवाह नहीं करते थे। और वह लोग अर्थशास्त्र या इतिहास ही नहीं और भी बहुत कुछ जानते थे। अपने-अपने फ्रील्ड के टापर लोग थे। पर आज एक से एक चश्मे नूर हैं कि साक्षर होने के बूते ही लाखों की सेलरी पा कर भी स्वाभिमान किस चिडिया का नाम है जानते ही नहीं। और काटजू साहब उन से अर्थशास्त्र और इतिहास भी जान लेना चाहते थे। यहां तो एक से एक रणबांकुरे हैं कि बीच क्रिकेट मैच में मैन आफ़ द मैच की फ़ोटो मांग बैठते हैं फ़ोटोग्राफ़र से और ग्रुप एडिटर की कुर्सी पर शोभायमान हो जाते हैं। यह समस्या अपनी हिंदी में ही कुछ क्या बहुत ज्यादा है।

अब यह घटतौली भी कैसे जाए भला ? वह भी हिंदी से ? यह सब तब है जब हिंदी हमारी राष्ट्रभाषा भले न हो बाज़ार की सब से बड़ी भाषा है इस दुनिया में। हिंदी से ज्यादा न सिनेमा बनता है, न धारावाहिक, न अखबार हैं हिंदी से ज्यादा, न हिंदी से ज्यादा किताबें छपती हैं इस देश में न हिंदी से ज्यादा खुदरा बाज़ार है यहां। फिर भी हिंदी का लेखक रायल्टी नहीं पाता। गिनती के कुछ लोग पाते भी हैं तो कैसे और कितना पाते हैं, वह ही जानते हैं। सच यह है कि पाठ्यक्रम जो न हो हिंदी का तो रायल्टी शब्द भी हिंदी किताबों की दुनिया से उठ जाए।

हिंदी फ़िल्मों के पटकथा और संवाद लेखकों की हैसियत कुछ बहुत अच्छी नहीं है। हिंदी पत्रकारों की तो और बुरी गत है। देश के किसानों के लिए सरकार कम से कम न्यूनतम समर्थन मूल्य तो घोषित करती है, हिंदी के पत्रकारों को तो न्यूनतम वेतन भी नहीं मिलता। एक रिक्शे वाले से भी कम वेतन है उस का। और बहुत सारे संवाद सूत्रों को तो वेतन भी नहीं मिलता। मुफ़्त में काम करते हैं। तमाम पत्रिकाएं और अखबार लेखकों को पैसा नहीं देते, ये तमाम ब्लागर या साइटें भी किसी को एक पैसा नहीं देते। हां, पाठक संसार देते हैं। लेखक पैसे के लिए लिखते भी नहीं। बताते हुए अच्छा लगता है कि राजेंद्र यादव हंस के रचनाकारों को किसी भी अखबार से खराब पारिश्रमिक नहीं देते थे। लिखते ज़रूर थे चिट्ठी में कि यह पारिश्रमिक नहीं है, बस यूं ही है।

साभार <http://sarokarnama.blogspot.com/> से